सत्, पुरुषार्थ और शिक्षा

सत् की बात करते ही दर्शन की बात सहज रूप में उठती है, क्योंकि सत्–असत् का भेद दर्शन के चिन्तन का प्रधान विषय रहा है। परन्तु पुरुषार्थ की बात करते ही सत्–असत् का भेद प्राय: समाप्त होने लगता है, क्योंकि पुरुषार्थ के बारे में चिन्तन यह मान कर चलता है कि 'जो है' उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

'सत्' की खोज स्वयं एक पुरुषार्थ का रूप ले सकती है और शायद प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य यह जानने की कोशिश करता है कि वास्तव में 'सत्' क्या है? लेकिन अगर वह सत् का निर्धारण कर भी लेता है तब भी उसे कुछ न कुछ कमी ज़रूर महसूस होती है। कोई चीज़ या वस्तुस्थिति 'सत्' है तो उससे यह कभी भी निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह जैसी होनी चाहिए, वैसी है। एक तरह से देखें तो 'सत्' होने की मान्यता ही यह है कि उसमें परिवर्तन किया जा सकता है और यह भी कि उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

सत् और पुरुषार्थ के बीच यह अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द मनुष्य की 'स्थिति' को परिभाषित करता है। जब तक हम इसकी ओर ध्यान नहीं देंगे तब तक हम न सत् को समझेंगे न पुरुषार्थ को।

व्यक्ति के रूप में मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सत् को उत्पन्न कर सकता है और अपने को उसके लिए उत्तरदायी मानता है। ऐसा वह स्वयं ही नहीं मानता, दूसरे भी मानते हैं। उत्तरदायित्व का सत् से सम्बन्ध क्या है, इसकी चर्चा दर्शन में बहुत कम दिखाई देती है। सत् की बात करते ही, कर्म, मानवीय कर्म की बात का अन्तर्धान हो जाता है। पर जहाँ कर्म की बात नहीं है वहाँ पुरुषार्थ की बात कैसे हो सकती है? पर मनुष्य सत् को कर्म से अलग ही रखना चाहता है। मनुष्य को यह बात कुछ अजीब सी लगती है कि वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा किसी सत् को 'संरचित' कर सकता है – सत् के 'होने' में उसका कुछ 'हाथ' हो सकता है।

यह सब होते हुए भी वह 'शिक्षा' की बात करता है और यह मानकर चलता है कि शिक्षा के बिना मनुष्य मनुष्य ही नहीं हो सकता है। जानवर भी अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं, पर उसको शायद ही कोई 'शिक्षा' कहता हो। यही नहीं, एक

उम्र के बाद बच्चा बड़ा हो जाता है और तब उसे उस प्रकार की शिक्षा की ज़रूरत नहीं रहती जो उसके 'माँ–बाप' ने उसे दी थी। अब वह स्वयं अपने को शिक्षा देता है, अपने अनुभव से सीखता है।

लेकिन इस सब का एक पक्ष और भी है, वह यह कि बच्चा जब बड़ा हो जाता है और सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में अपने माता–पिता से स्वतन्त्र हो जाता है, तब वह स्वयं माता–पिता बनता है और तब अपने बच्चों को उसी प्रकार शिक्षा देता है जिस प्रकार उसके माता–पिता ने उसे दी थी। लेकिन इस 'शिक्षा' में और उस शिक्षा में जो उसने अपने माता–पिता से पायी थी, एक मूलभूत भेद होता है। वह कभी वैसी हो ही नहीं सकती जैसी वह पहले थी, और इसी में वह रहस्य निहित है जो शिक्षा में सतत् परिवर्तन लाता है। शिक्षा का 'सत्' क्या है और उसका 'पुरुषार्थ' क्या है, जब तक हम इसको समझने का प्रयत्न नहीं करेंगे तब तक हम मनुष्य की स्थिति को मुश्किल से ही समझ पायेंगे। शिक्षा के 'सत्' की बात करते ही कुछ–कुछ वैसी ही समस्याएँ उठती हैं जो ज्ञान की चर्चा करते हुए उठती हैं। ज्ञान के लिए 'ज्ञाता', 'ज्ञेय' और 'ज्ञान' का भेद सर्वमान्य है और शायद इसी प्रकार शिक्षा के सन्दर्भ में भी शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा को स्वीकार करना पड़ेगा। हमारे यहाँ शिक्षार्थी को जिज्ञासु कहा गया है और आजकल उसे साधारण तौर पर विद्यार्थी कहते हैं। 'जिज्ञासुओं' के बारे में गीता में किया गया भेद प्रसिद्ध है, जहाँ चार प्रकार के जिज्ञासु स्वीकार किये गये हैं–एक वे जो अर्थ की आकांक्षा से जिज्ञासु हुए हैं, दूसरे वे जो दु:ख से पीड़ित हैं और उससे मुक्त होने के लिए शिक्षा की तलाश में आये हैं, तीसरे वे जो शुद्ध जिज्ञासु हैं और अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए किसी के पास शिक्षा प्राप्त करने आये हैं। चौथा जिज्ञासु इन सभी से अलग है–उसे न शुद्ध जिज्ञासा है न ही वह किसी लौकिक प्रयोजन की प्राप्ति के लिए शिक्षा लेने आया है। वह तो अपने को अपनी ही चेतना को जानने की प्रक्रिया में संलग्न पाता है और उसी में आत्मतुष्टि पाता है। उसके लिए जिज्ञासा कभी शांत नहीं होती, न उसको अपनी जिज्ञासा का किसी और अन्य पुरुषार्थ या लक्ष्य से सम्बन्ध दिखायी देता है। उसकी चेतना बुद्धि–केन्द्रित होती है और बुद्धि के अपने सहज व्यापार में वह आत्म–तुष्टि लाभ करता है। इसके लिए उसे कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं होती, न ही वह कुछ प्राप्त करना चाहता है–उसके लिए बुद्धि साधन नहीं है, बल्कि साध्य है।

गीता में ये भेद भक्तों के सन्दर्भ में किये गये हैं, लेकिन जो भेद हैं उनका 'भक्तों' से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में इस प्रकार के भेद सर्वत्र किये जा सकते हैं, और करने भी चाहिएँ।

इसी प्रकार का अन्य भेद गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक–यह किया गया है। शिक्षा के सन्दर्भ में भी ये भेद किये जा सकते हैं। शिक्षा भी सात्विक, राजसिक और तामसिक हो सकती है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो ये भेद

असंतोषजनक प्रतीत होंगे। विद्या के सात्विक होने का कुछ अर्थ हो सकता है, विद्या के राजसिक होने को भी अर्थ दिया जा सकता है, पर शिक्षा को तामसिक कहने का अर्थ क्या होगा? अगर हम शिक्षा की सात्विकता पर विचार करें तो शायद यह जानने में मदद मिलेगी कि जो शिक्षा सात्विक नहीं है उसका रूप क्या है? सात्विक शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु आत्म-चेतना ही हो सकती है। चेतना का परिष्कार ही उसका लक्ष्य हो सकता है, और जिसे हमारे यहाँ 'योग' कहा गया है वह अपने अनन्त रूपों में उस प्रकार की शिक्षा ही को जन्म देता दिखाई देता है।

लेकिन यदि हम यह मान भी लें कि सात्विक शिक्षा का केन्द्र बिन्दु 'चेतना' है तब भी उसमें अध्यात्म और धर्म में भेद सदैव रहेगा। अध्यात्म का केन्द्र बिन्दु चेतना का स्वयं अपना रूप है जबकि धर्म-केन्द्रित चेतना सदैव अन्य केन्द्रित होती है और उसके लिए अन्य सबका शुभ-अशुभ ही सर्वोपरि होता है।

सात्विक शिक्षा के ये दो आयाम मनुष्य को भिन्न दिशाओं में ले जाते हैं और उनमें परस्पर गहरा अन्तर्विरोध भी दिखाई देता है। अन्य तो अनेक हैं और अन्य-केन्द्रित चेतना, जो अपने को धर्म के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती है, उसके लिए 'धर्म' भी उतने ही अलग-अलग होंगे जितने 'अन्य'। इन धर्मों में साम्य हो सकता है, परन्तु भेद हमेशा रहेगा और साम्य के बजाय भेद हमेशा अधिक महत्त्व का होगा।

अगर अभी हम कम से कम कुछ देर तक अपना ध्यान शिक्षा के सन्दर्भ में चेतना पर ही केन्द्रित करें तो अध्यात्म और धर्म के अलावा कुछ और पक्ष भी हमारे ध्यान में आयेंगे। चेतना का एक पक्ष है उत्साह। कुछ करने में हमेशा आनन्द लेना। जैसे ही हमारा ध्यान इसकी ओर जाता है वैसे ही हम शिक्षा के उस आयाम की ओर ध्यान देते हैं जहाँ वह चेतना में उस स्फूर्ति, उत्साह और ओज को जन्म देती है जिसके उत्पन्न होने के बाद शिक्षार्थी को या जिज्ञासु को कुछ शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि अब वह अपने को शिक्षित करने में आनन्द प्राप्त करने लगता है। यही नहीं, उसके चारों ओर का परिवेश 'शिक्षामय' होने लगता है और जहाँ भी वह होता है वहाँ शिक्षा का वातावरण सहज रूप में उत्पन्न होता है।

परन्तु इस सबकी चर्चा में वह मामूली बात नहीं भुला देनी चाहिए जिस पर शिक्षा का प्रासाद खड़ा है। शिक्षा जिसे दी जा रही है और जो दे रहा है, वे दोनों ऐसी चेतनाएँ हैं जो शरीर से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं और जो शरीर में अधिष्ठित हैं। इसीलिए मनुष्य के सन्दर्भ में शिक्षा की बात करते ही लिखने, पढ़ने की बात होती है और इनके साथ जो भी अन्य चीज़ें सम्बद्ध हैं उनकी भी। अगर पढ़ना न आये, लिखना न आये तो शिक्षा की बात करना मुश्किल है। लेकिन कुछ हद तक वह की जा सकती है। और जिस हद तक वह की जा सकती है उसका भी सम्बन्ध शरीर की उन अन्य क्षमताओं से होता है जिनके आधार पर

हम कर्म करते हैं और अनेकानेक विभिन्न 'संसारों' की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार की क्षमताओं को साधारणत: शिल्प कहा जा सकता है। इस कर्म का रूप शिल्प-कौशल है और यह भी शिक्षा का अनिवार्य अंग है।

कर्म-कौशल की बात करते ही हमारा ध्यान सहज रूप में उस ओर आकृष्ट होता है जहाँ यह सभी को स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कौशल' ही सब कुछ नहीं है। जहाँ यह दिखता है कि मनुष्य जो कर रहा है वह केवल 'कलाबाज़ी' है, कला नहीं, चातुर्य मात्र है, अर्थ से शून्य, प्राण-रिक्त और स्पन्दन-विहीन। मनुष्य के हर कृतित्व में यह सहज रूप में देखा जा सकता है और बहुत बार तो इसी चातुर्य के आधार पर वाहवाही लूटी जा सकती है और चिन्तन, कला और कर्म तीनों के अनन्त विस्तार में इसका हाथ देखा जा सकता है। दर्शन का इतिहास इसका प्रबल प्रमाण है। और अगर कला और कर्म के इतिहास को देखें तो वहाँ भी यह साफ नज़र आयेगा। काव्य में जिसे अलंकार कहा जाता है वह भी एक चातुर्य ही है जिससे साहित्य इतना बोझिल हो चुका है कि उसमें से रस और प्राण दोनों प्राय: लुप्त हो चुके हैं। यह बात केवल संस्कृत साहित्य के बारे में ही सही नहीं है, संसार के प्रत्येक साहित्य और कला में इसे आसानी से देखा जा सकता है। बरोक (Baroque) हो या रोकोको (Rococo) दोनों सब जगह मिलते हैं। नक्काशी कहाँ नहीं होती? और मन्दिरों की दीवारें उन प्रतिमाओं की भीड़ से भरी पड़ी हैं जो मन्दिर को देखने ही नहीं देतीं।

कला को तो यों देखा जाता है पर कर्म के इतिहास को इस तरह नहीं देखा गया। लेकिन देखा जा भी सकता है। और अगर अध्यात्म की बात करें तो उसकी बेवकूफियों का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। अगर किसी को इस बात में शक हो तो भारत में तन्त्र-साधना के विस्तार को देखकर उसका सन्देह ज़रूर शांत हो जायेगा। तन्त्र की बात छोड़ भी दें तो अन्य धर्मों में जहाँ धर्म के साथ हिंसा, कुफ्र, जेहाद अनिवार्य रूप से जुड़ा है वहाँ भी ऐसा ही दृष्टिगोचर होगा। बलि देना वैदिक यज्ञ में ही नहीं सभी जगह मिलता है, और जो भी उस धर्म को मानने वाले हैं उन्हें उसमें ज़रा सी भी ग़लती महसूस नहीं होती।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि यही जो बात बेकार की लगती है वही आसानी से सिखाई जा सकती है। सीखने-सिखाने का मतलब ही यह होता है कि कैसे निरर्थक परिष्कार किया जाये, कैसे 'बढ़त' ली जायें, सीधी-साधी चीज़ों को ऐसे बनाया जाये कि किसी की समझ में ही न आये। थोथी समझ में सारी ज़िन्दगी लगा देना ही शिक्षा का धीरे-धीरे अनिवार्य लक्षण बन जाता है। इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है? इस भूल को कैसे भुलाया जाये और हज़ारों साल का बेकार बोझ जो मनुष्य ने अपने ऊपर लादा है और जिसे वह आने वाली पीढ़ी पर दोबारा लादने की कोशिश करता है, उससे कैसे बचा जाये? शिक्षा के पीछे जो सहज जिज्ञासा थी, उसको फिर कैसे लौटाया जाये? जो हर

बालक के प्रश्न में सहज उद्‌भूत होती है और जो उसकी आँख की उस चमक में दिखाई देती है जब वह संसार को विस्मय की दृष्टि से देखता है! मनुष्य ने जो ज्ञान अर्जित किया है उसके पीछे उसकी अनन्त साधना है, लेकिन उसको फिर साधना के रूप में कैसे प्रस्तुत किया जाये? शायद, शिक्षा के सामने यही सबसे बड़ा प्रश्न है।

शिक्षा को इस प्रकार से देखने पर वह मनुष्य के समूचे, सामूहिक पुरुषार्थ के रूप में दिखाई देने लगती है, जिसका एक ओर केन्द्र जहाँ 'व्यक्ति' है वहीं दूसरी ओर उसका केन्द्र मनुष्य के इतिहास के उस छोर से बँधा प्रतीत होता है जिसका काल में कोई निश्चित अन्त दिखाई नहीं देता। इसको थोड़ा इस तरह से भी देखें कि जो आज का शिक्षार्थी है वह जब कल का शिक्षक बनेगा तो शिक्षा में अन्तर्भूत उस सहज भ्रम का भी कुछ निवारण हो सकेगा जो सदैव शिक्षक के अहं को परिपोषित करता आया है। मनुष्य के केन्द्र में अगर शिक्षा देना और शिक्षित होना अनिवार्य है तो फिर क्या 'सत्' के स्वरूप को भिन्न प्रकार से नहीं समझना होगा? 'सत्' तब वह नहीं होगा जो है, या जिसके सदैव होने की बात की जाती है, बल्कि वह होगा जो सदैव नये रूपों की प्रतीक्षा करता है और जिसे सदैव नया रूप दिया जा सकता है। प्रतिभा का एक लक्षण परम्परा ने यह दिया है कि प्रतिभा वह है जो नित्य नवोन्मेषशालिनी हो। वास्तव में यह लक्षण प्रतिभा का नहीं चेतना का है, या दूसरी तरह से कहें तो 'सत्' का, जो चेतना का ही दूसरा नाम है।

सत् को चेतना से अलग करके देखना मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है और चेतना को उस कारयित्री प्रतिभा से अलग करके केवल शुद्ध ज्ञान के रूप में देखना शायद उससे भी बड़ी भूल है। सत् के स्वरूप को इस नयी तरह से समझे बिना न हम पुरुषार्थ को समझेंगे, न शिक्षा को, न चेतना को, न प्रतिभा को। इन्हीं के भीतर और इन्हीं के बीच नये सम्बन्धों की खोज 'शिक्षा' को वह नया आयाम दे पायेगी जो शायद मनुष्य की चेतना में नये पुरुषार्थों को जन्म देगी, नये उत्साह का सृजन करेगी और प्राणों में उस नये स्पन्दन या नयी 'सिहरन' को पैदा करेगी जिसके बिना जीना सदैव अर्थहीन लगता है।

❑

साहित्य और दर्शन

साहित्य सामान्य चेतना की वह सृजनशीलता है जो भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और उसी माध्यम को आधार बनाकर अपनी संरचना करती है। दर्शन इसके विपरीत भाषा का प्रयोग तो करता है पर उसका केन्द्र-बिन्दु चेतना की वह प्रक्रिया है जिसको हम विमर्श का नाम देते हैं और जो प्रत्ययों को आधार बनाकर चलती है। यह ठीक है कि प्रत्यय भी भाषा का आधार लेते हैं और भाषा ही के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं पर प्रत्ययों का जगत् भाषा को छूता जरूर है लेकिन बहुत हद तक उससे स्वतंत्र भी होता है। प्रत्ययों के जगत की संरचना और उसकी समस्याएँ एक प्रकार से दर्शन का प्राण है जबकि साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया प्राय: प्रत्ययों से दूर रहकर बिम्ब को अपना आधार बनाती है और उसके द्वारा अपने जगत की संरचना करती है। चेतना का वह आयाम जो साहित्य में अभिव्यक्त होता है, उससे भिन्न है जो दर्शन में अभिव्यक्त होता है। साहित्य की सृजनचेतना जीवन के प्रति उन्मुख ही नहीं होती बल्कि उसके अनेक आयामों में सहज आनन्द भी लेती है, और उनसे ऐसा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है जिसमें केवल प्राण का स्पन्दन ही नहीं होता, बल्कि मानवीय चेतना उसमें अपने अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होती है और इसीलिए मनुष्य उसमें अपने को ही, अनेक प्रकार से, जीवन्त होता हुआ दिखाई देता है।

दर्शन में, इसके विपरीत, मानवीय सम्बन्ध तो क्या मनुष्य का सारा भावनात्मक जगत् एक प्रकार से अछूता रह जाता है। विचार केन्द्रित होने के कारण, वह मनुष्य के ज्ञानात्मक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख होता है और मनुष्य को उसका ऐसा रूप दिखाता है कि वह एक ऐसा प्राणी है 'जो वास्तव में क्या है', वह जानने की सतत् प्रक्रिया में संलग्न है और जहाँ कोशिश यह है कि किसी भी ज्ञान को किस प्रकार संदेह के 'भय' से बचाया जा सके। 'कहीं मैं भ्रम में ही तो नहीं हूँ' यह शंका छाया की तरह सदैव ज्ञान को घेरे रहती है और उसके आगे एक प्रश्नचिह्न लगाती रहती है। इसीलिए दर्शन का केन्द्र बिन्दु प्रमाण-प्रमेय व्यापार है। किसी युक्ति से क्या सिद्ध होता है और क्या नहीं, यह दार्शनिक के लिए सदैव चिन्तन और चिन्ता दोनों का विषय बना रहता है। दार्शनिक वृत्ति हमेशा सवाल ही नहीं पूछती पर, जो भी कथन उसके सामने आता है उसके बारे में वह सदैव